

भौतिकता एवं आध्यात्मिकता

हमारे जीवन के दो अंग हैं—एक भौतिक दूसरा आध्यात्मिक। भौतिक जीवन सीमित है और आध्यात्मिक जीवन अनन्त है। भौतिक जीवन एक शरीर से शुरू होता है और उसके अंत होने पर समाप्त हो जाता है लेकिन आध्यात्मिक जीवन इस शरीर से पहले भी था और इसके बाद भी रहेगा।

फकीर बाबा कहते थे 'मनुष्य बनो'। कबीर दास जी कहते हैं — 'मानव बन कर ना जिया जिया तो डांगर ढोर। जीव किनारे ना लगा लगा तो हाथी घोड़।' मानवता का अर्थ है— मानव मानव के बीच में कोई खाई न हो, कोई विभाजक रेखा न हो, केवल मिलन बिन्दु हो। सबकी आत्मा गुणों में एक समान है भले ही व्यक्तित्व अलग-अलग हों। सबकी आत्मा को एक समान पीड़ा होती है, एक समान ही अनुभूति होती है।

हनुमान चालिसा की एक पंक्ति है—'आपन तेज संवारो आपै। तीनहुं लोक हांपते कांपे।' इसका आशय है आप अपने मन के तेज को संभालो, अपने ब्रह्मचर्य के तेज को सम्भालो, अपनी इंद्रियों के तेज को सम्भालो तो तीन लोक (सत, रज, तम) हांपने कांपने लगेंगे। जब तुम इन तीनों गुणों पर विजय प्राप्त कर लोगे तो तुम स्वतन्त्र हो जाओगे, अभी तुम इनके दास हो।

व्यावहारिक दृष्टि से हम प्रत्येक के साथ समता का व्यवहार नहीं कर सकते लेकिन हृदय से तो सबके प्रति समता का भाव रखा जा सकता है। उपनिषद् का श्लोक है—'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुख भाग्भवेत्।'

जो कर्म—फल हम प्रारब्धवश भोग रहे हैं उसे किस भावना से भोग रहे हैं इससे हमारा वर्तमान एवं भविष्य (भाग्य) बनता है। यदि उसे भोगते हुए हम दुखी हैं तो आगे भी दुखी रहेंगे और यदि उसे खुशी-खुशी भोग रहें हैं तो आगे भी खुशी ही मिलेगी।

हमारा जीवन जड़ और चेतन के मिश्रण से बना है। इसे जड़-चेतन की ग्रंथी भी कहते हैं। जड़ हमारा शरीर है, हमारा मन है और चेतन हमारी आत्मा है। जिस दिन हम जड़ पदार्थ को पूरी तरह समझ लेंगे उसी दिन चेतन भी समझ में आ जायेगा और जिस दिन चेतन को समझ लेंगे उसी दिन जड़ पदार्थ की असलियत समझ में आ जायेगी। वास्तव में जड़ पदार्थ में जो गुण है, जो गति है वह चेतन द्वारा ही प्रदान की गई है लेकिन चेतन शक्ति जड़ पदार्थ या प्रकृति पर आधारित नहीं है। इसलिए जड़ प्रकृति एक सीमा तक स्वतन्त्र है और चेतन शक्ति उसमें कोई दखल नहीं देती। प्रकृति में जो गतिशीलता नजर आती है यद्यपि वह प्रत्यक्ष रूप में प्रकृति की अपनी जान पड़ती है तथापि परोक्ष रूप में वह चेतन शक्ति पर ही निर्भर है। वृक्ष प्रकृति की शक्ति से उगता, बढ़ता, फूलता और फलता है लेकिन फूल में खुशबू और फल में स्वाद चेतन शक्ति से ही आता है।

यदि हम यह समझ लें कि समस्त भौतिक पदार्थ क्षणिक हैं इनकी स्वतन्त्र कोई सत्ता नहीं है तो हमसे कोई पाप नहीं होगा, हमारे अंदर कोई पाप की भावना नहीं आयेगी क्योंकि हमारी सत्ता तो अनादि, अनन्त और नित्य है। कबीर साहब कहते हैं कि संसार एक दम झूठा और स्वप्नवत नहीं है, बल्कि इससे हमारा संबंध झूठा और स्वप्नवत है। जगत् अपने क्षेत्र में नित्य है लेकिन हमारा इस जगत् से संबंध स्वप्नवत है, वस्तु स्वप्नवत नहीं है।

हम मन से जगत् को मानते हैं इसलिए इसके साथ संबंध भी मन जनित है। इसीलिए कहते हैं कि ये मनोमय जगत हैं।

सुषुप्ति का अर्थ है—स्व+अपीति अर्थात् अपने आपको पाना। इसी के आधार पर ज्ञानी पुरुष जाग्रत अवस्था में ही शरीर और इन्द्रियों से ऊपर उठकर अपने आप में स्थिर होकर अपने चेतन—स्वरूप को नित्य प्राप्त होते रहते हैं अर्थात् वे जागते हुए भी सुषुप्त हैं। सुषुप्ति का मतलब निष्क्रिय होना नहीं है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। सुषुप्ति में शरीर और मन तो निष्क्रिय हो जाते हैं लेकिन आत्मा तो पूर्णतया क्रियाशील रहती है।

कबीर साहब कहते हैं— 'घाव काहि पर द्यालो, जित देखो तित प्राण हमारो।' अर्थात् चोट किसको पंहुचाई जाय, जहां देखता हूं अपना प्राणप्रिय ही नजर आता है। इसलिए हमें मानवता की सेवा करनी चाहिए, प्रत्येक प्राणी के प्रति दया और करुणा का भाव रखना ही मानवता धर्म है।

करनी करे सो पूत हमारा, कथनी कथै सो नाती।
रहनी रहे सो गुरु हमारा, हम रहनी के साथी।।

कथनी वाणी से होती है, करनी इन्द्रियों से होती है और रहनी मन से होती है। कथनी अर्थात् ज्ञान की चर्चा करना भी जरूरी है, ज्ञान की चर्चा कहने और सुनने से ज्ञान की वृद्धि होती है। इसके बाद करनी भी जरूरी है, निषेधात्मक करनी को छोड़कर विधेयात्मक करनी जरूर करनी चाहिए। उसके बाद मन के अंदर ऐसे संस्कार डालने चाहिए कि जो कहा गया है, जो इन्द्रियों से किया गया है उनमें मन से रहा भी जाय अर्थात् स्वभाव भी वैसा ही बन जाय। रहनी कहते हैं मन का रहना, मन का ठीक रहना, मन का शान्त रहना, मन का किसी बिन्दु पर ठहर जाना। चित्त की एकाग्रता ही रहनी कहलाती है। उसके बाद संसार फीका लगने लगता है।

बाहर का वातावरण कभी भी सदैव अनुकूल नहीं रह सकता, लेकिन जब मन एकाग्र हो जाता है तब वह अंदर में आनन्द से रहता है। क्योंकि जहां कोई प्रतिकूलता नहीं वहां तृप्ति ही तृप्ति है। कहते हैं कि मन को संकल्पहीन बनाना ही समाधि है।

असंतोष एक ऐसी पीड़ा है जिसकी अन्य कोई औषधि नहीं सिवाय सन्तोष के। अपने मन में जैसी इच्छा हो वैसे ही बाहर संसार में भी होता रहे, ऐसा संभव नहीं है। अपने मन की बात चाहने वाला कैसे संतोष पा सकता है। जो कुछ हमें प्राप्त है, हमारे प्रारब्ध और पुरुषार्थ का फल है, इसमें संतोष करने के अलावा कोई चारा नहीं है। आस—पास के मनुष्यों के बारे में जो मेरा असंतोष है उसमें अधिकांश मेरी ही गलती है। मेरे मन में सबके प्रति प्रेम का स्थान हो जाए, मैं निश्चल होकर सबको प्यार देने लगूं तो सब अच्छे लगने लगेंगे और फिर सबसे संतोष की प्रतिति होने लगेगी। जो हर परिस्थिति में संतुष्ट रह सकता है वही सदैव सुखी रहता है।

सारे दुखों का मूल कारण है अपने आपको न जानना। व्यक्ति का अपना मौलिक स्वरूप चेतन है जो ज्ञान ज्योति से जगमता रहता है। यह चेतनतत्व ही अहम् पदार्थ है।

जो व्यक्ति यह समझ लेता है कि मैं शरीर, मन, प्राण, संकल्प एवं दृश्यवर्ग से प्रथक हूं और इस समझ के अनुसार अपनी रहनी बना लेता है, वह दुखों से सदा मुक्त होकर परम सुख शांति में विचरता है।

त्याग— एक त्याग वाह्य होता है, इसकी सीमा होती है। दूसरा त्याग आंतरिक होता है, यह निस्सीम है। बाहर में जितना त्याग हो गया और जो नहीं हो पाया उन दोनों की वासना का त्याग आंतरिक त्याग है। बाह्य त्याग में तो अहंकार भी आ जाता है लेकिन आंतरिक त्याग में तो अहंकार भी त्यागना पड़ता है।

त्यागी हुई चीज की ही नहीं अपितु ग्रहण की हुई चीज की भी वासना त्याग देनी चाहिए। जिन वस्तुओं के ग्रहण करने से मन, वाणी और मन की पवित्रता, सामाजिक व्यवस्था एवं मर्यादा में विघ्न पड़ें या दूसरे को कष्ट हो, उनका त्याग करना विवेकी मानव का कर्तव्य है।

त्याग में बहुत शक्ति है। बिना त्याग के त्याग की शक्ति नहीं बढ़ सकती। जिसका हृदय त्याग से भरा है, वह किसी भी चीज को त्याग सकता है। संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जिसका मनुष्य त्याग नहीं कर सकता। पति-पत्नी का त्याग, मां-बाप का त्याग, दौलत का त्याग, प्राणों का त्याग, शरीर का त्याग अर्थात् मनुष्य सब कुछ त्याग सकने में सक्षम है। यदि कोई अपने आप त्याग नहीं करना चाहता तो मृत्यु तो उससे सब कुछ त्याग करा ही देती है।

मनुष्य त्याग करने में तो स्वतन्त्र है लेकिन ग्रहण करने में परतन्त्र है। मुझे अमुक वस्तु चाहिए तो उसका मिलना मेरे अधिकार क्षेत्र में नहीं है, देने वाले की मरजी पर निर्भर करता है। यही बात कर्म के सिद्धांत पर भी लागू होती है—जब हम कर्म करते हैं तो उसका फल कब और क्या मिलेगा यह भी हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है बल्कि देने वाले की मरजी पर निर्भर करता है।

मनोविकारों को त्यागने पर भी शान्ति मिलती है। जो त्याग नहीं करता उसे ग्रहण करने का भी अधिकार नहीं है। यदि वह फिर भी ग्रहण करता जाता है तो अवश्य ही बीमार पड़ जायगा, कष्ट उठायेगा। त्याग में झगड़ा नहीं है, भोग में झगड़ा है।

खेत, दफ्तर, कारखाना, सड़क सब पूजा स्थल हैं और एक एक कर्म पवित्र भावना से करना पूजा है। अरे! ज्ञानी के लिए क्या काशी, क्या मगहर?